□ ओंकारलाल सेठिया, सनवाड़

वेश-भूषा एक विशेष व्यक्तित्व तथा विशिष्ट जीवन पद्धति का परिचायक है। संन्यासी और गृही की वेश-भूषा का अन्तर उसकी जीवन-पद्धति का अन्तर सूचित करते हैं। जैन श्रमण की विशेष वेश-भूषा का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक औचित्य तथा अन्तर्हित जीवन दृष्टि का विश्लेषण पढ़िए—

जैन-श्रमण : वेशभूषा— एक तात्त्विक विवेचन

□

जीवन के दो पक्ष हैं, अन्तरंग तथा बहिरंग। अन्तरंग का सम्बन्ध वस्तु स्थिति से है, जिसे दर्शन की भाषा में निश्चय नय कहा जाता है। वह सत्य का निरावरण और ठेठ रूप है। यथार्थतः साध्य उसी से सधता है। इसलिए उसका निर्व्याज महत्त्व है। बहिरंग निश्चय का परिवेश है, जिसे व्यवहार कहा जाता है। तात्त्विक उपयोगिता तो निश्चय की ही है पर व्यवहार भी स्थूल जीवन और लौकिकता की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय नहीं। इसलिए वह जहाँ जिस स्थिति में परिगठित होता है—निश्चयपरक होता है। जैन श्रमण का जीवन अध्यात्म-साधना में सम्पूर्णतः समर्पित जीवन है—प्रमाद, मोह, राग और एषणा के जगत् को विजित करते हुए आत्मा के अपने साम्राज्य में पहुँचने का जीवन है। अतः श्रमण के लिये जो व्रत गठन की भूमिका है, वह इन्हीं विजातीय-अनध्यात्म भावों के विजय मूलक आधार पर अधिष्ठित है। चतुर्दश गुणस्थान का क्रम इसका स्पष्ट परिचायक है।

साधक के लिए निश्चय की भाषा में बहिरंग परिगठन अनिवार्य नहीं है। पर, व्यावहारिक साहाय्य तथा स्व-व्यतिरिक्त अन्य सामान्य-जनों के हेतु उसकी अपनी दृष्टि से उपादेयता है। यही कारण है कि भारतीय जीवन में संन्यासी और गृही की वेश-भूषा में एक अन्तर रहा है। संन्यासी की वेश-भूषा, वस्त्र आदि के निर्धारण में मुख्य दृष्टि-कोण यह रहा है कि उस द्वारा गृहीत परम पावन जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति उससे सधती रहे। दर्शकों के लिए यह परिवेश अध्यात्म मूलक उदात्त भाव की जागृति का प्रेरक या हेतु बने। इस सन्दर्भ में हम यहाँ जैन श्रमण की वेश-भूषा पर तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संक्षेप में विचार करेंगे।

अवस्त्र : सवस्त्र

जैन परम्परा में यह बहुचर्चित प्रश्न है कि श्रमण सवस्त्र हो या निर्वस्त्र। कुछ का अभिमत यह है कि वस्त्र परिग्रह है, इसलिए परिहेय है। उनका यह भी कहना है कि श्रमण के लिए लज्जा-विजय भी आवश्यक है। वस्त्र लज्जा का आच्छादन है, इसलिये दुर्बलता है। दूसरा पक्ष है कि लज्जा या अन्यान्य मनोरागों का विजय मन की वृत्तियों पर आधृत है। वस्त्र आदि वस्तुएँ गौण हैं। जैन परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में जो भेद है, इसकी मूल भित्ति यही है। दिगम्बर और श्वेताम्बर की प्राचीनता-अर्वाचीनता, मौलिकता-अमौलिकता आदि पर यहाँ विचार नहीं करना है। यह एक स्वतन्त्र विषय है और विशदता से आलोच्य है, यहाँ इसके लिये अवकाश नहीं है। अस्तु—

प्रागैतिहासिक स्थिति पर हम न जाकर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें तो जैन-परम्परा में तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्व एक इतिहास-पुरुष के रूप में हमारे समक्ष हैं क्योंकि उनके सम्बन्ध में प्राचीन वाङ्मय में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे उनका इतिवृत्त ऐतिहासिक शृंखला से जुड़ जाता है। जैन, बौद्ध, वैदिक सभी परम्पराएँ अपने आगमिक और पौराणिक साहित्य में वर्णित घटनाक्रमों को ऐतिहासिक कहती हैं परन्तु आज की परिभाषा में जिसे इतिहास कहा जाता है, उसमें वे नहीं आतीं। पार्श्वनाथ की गणना आज की तथारूप ऐतिहासिक मान्यता में आती है। बौद्ध पिटकों में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे पार्श्व-परम्परा का हम कुछ अनुमान कर सकते हैं। अर्द्ध-मागधी जैन आगम जो भगवान महावीर के उपदेशों का प्रतिनिधित्व करते माने जाते हैं, में पार्श्व-परम्परा के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट और विशद उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय अर्द्ध-मागधी आगमों को प्रामाणिक नहीं मानता पर भाषा, वर्णन तथा अन्यान्य आधारों से समीक्षक विद्वान् उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। आगमों की विवेचन-पद्धति का अपना प्रकार है इसलिए उनमें अपनी कोटि की सज्जा, प्रशस्ति आदि तो है पर, उनमें वैचारिक दृष्टि से जो ऐतिहासिक मौलिकता है वह अमान्य नहीं है।

पार्श्व एवं महावीर की परम्परा में वस्त्र

भगवान पार्श्व की परम्परा में जो श्रमण थे, उन्हें पार्श्वापत्यिक कहा जाता था। वे विविध रंगों के वस्त्र पहनते थे, ऐसा माना जाता है। अर्थात् श्वेत वर्ण के वस्त्र तो उनके थे ही पर अन्य रंगों के वस्त्रों का भी निषेध नहीं था। भगवान महावीर की परम्परा में सवस्त्रता भी थी और निर्वस्त्रता भी। वहाँ साधुओं की दो कोटियाँ मानी गई हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनका अर्थ वीतराग है तथा कल्प का अर्थ आचार-परम्परा है। उनके आचार की तरह जिन श्रमणों का आचार होता था, वे जिनकल्पी कहे जाते थे। जिनकल्पी वस्त्र नहीं पहनते थे। नागरिक बस्तियों से बाहर रहते थे। प्रायः गिरि-कन्दराओं में रहते थे। भिक्षा के सिवाय प्रायः उनका जन-समुदाय में जाना नहीं होता था। स्थविर कल्पी श्वेत वस्त्र धारण करते थे। स्थविर कल्पियों का आचार यद्यपि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह मूलक व्रतों के पालन की दृष्टि से तो उनसे कुछ भी भिन्न नहीं था पर जीवन के बहिरंगी पक्षों को लेकर वस्त्र आदि बाह्य परिवेश के सन्दर्भ में भिन्नता लिये हुये था। कहने का सारांश यह हुआ कि भगवान महावीर के श्रमण-संघ में सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार के श्रमण विद्यमान थे।

उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसंग है, एक बार पार्श्व परम्परा के श्रमण केशी और भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतम का श्रावस्ती के तिन्दुक उद्यान में मिलन हुआ।[1] इससे तथा कतिपय अन्य उल्लेखों से सूचित होता है कि भगवान महावीर के समय में भी पार्श्वापत्यिक परम्परा चल रही थी। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ भी उसी परम्परा के थे। केशी और गौतम का अनेक बातों को लेकर एक विचार विमर्शात्मक संवाद हुआ क्योंकि एक ही विचार-दर्शन की भित्ति पर आधृत दो भिन्न परम्पराओं को देखकर जन-साधारण को कुछ शंका होना सहज था। दोनों के संवाद के पीछे शायद यही आशय रहा हो कि इससे स्पष्टीकरण हो जाय, जिससे यह आशंका उत्पन्न नहीं हो। जिन मुद्दों पर बातचीत हुई उनमें एक मुद्दा था—वस्त्र-सम्बन्धी। केशी ने पूछा—हम दोनों परम्पराओं के साधक जब एक ही आदर्श पर चलते हैं तब अचेलक—निर्वस्त्र, सान्तरोत्तर-सवस्त्र—यह भेद क्यों?[2] गौतम ने बहुत संक्षेप में और बहुत सुन्दर समाधान दिया, जिसके अनुसार श्रामण्य न सवस्त्रता पर टिका है, न निर्वस्त्रता पर। वह तो ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य पर टिका है। निर्वेद पूर्ण परिणामों पर आधृत है। वस्त्र केवल जीवन-यात्रा के निर्वाह, पहचान आदि के लिये है। व्यावहारिक व औपचारिक है। इस विवाद में उलझने जैसी कोई तात्त्विकता नहीं है।

जिनकल्प : स्थविरकल्प : लोक संग्रह

अध्यात्म-साधना, साधक की दृष्टि से सर्वथा पर-निरपेक्ष है। समाज भी उस 'पर' के अन्तर्गत आता है। वहाँ साधक का एक ही लक्ष्य होता है कि वह अपनी आत्मा का उत्थान करे। ऐसी स्थिति का साधक बाह्य औपचारिकताओं का पालन करे, न करे, कम करे इसका कोई महत्त्व नहीं है। प्रायः होता भी यह रहा कि ऐसे साधकों ने निरोपचारिक जीवन ही पसन्द किया। परन्तु भगवान बुद्ध की महाकरुणा के सन्देश की व्यापकता और लोक जनीनता का भी एक प्रभाव था कि अन्यान्य परम्पराएँ भी धार्मिक दृष्टि से लोक-जागरण की ओर विशेषतः गतिशील हुईं। गृहस्थ की करुणा जहाँ भौतिक पदार्थ और दैहिक सेवा से सम्बद्ध है, वहाँ श्रमण या संन्यासी की करुणा धर्मामृत के प्रवाह में है, जिससे जन-जन को शान्ति और सुख का सही मार्ग प्राप्त हो सके। महाकरुणा से लोक-संग्रह सधता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक-सम्पर्क तो बढ़ता ही है अतएव समाज में जब श्रमणों का पूर्वापेक्षया अधिक समागमन होता गया, तब यह आवश्यक था कि उनका बहिरंग जीवन इस प्रकार का हो, जो सहसा लोक-प्रतिकूल भासित न हो। अर्थात् वस्त्रादि की दृष्टि से वह समुचिततया समायोजित हो।

जैन परम्परा में श्रमण जीवन के, जैसा कि ऊपर कहा गया है, दो प्रकार के क्रम थे ही, आगे स्थविर-कल्प के विशेष रूप में प्रसृत होने में इसका अपना एक विशेष हाथ है। दूसरी बात यह भी हुई कि दैहिक संहनन-संघटन, जो उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत दुर्बल होता जा रहा था, जिनकल्प के यथावत् परिपालन में बाधक बना। फलतः स्थविर कल्प बढ़ता गया। श्वेताम्बरों में मान्यता है कि भगवान महावीर से दो पीढ़ी बाद अर्थात् सुधर्मा और जम्बू के अनन्तर जिन-कल्प विच्छिन्न हो गया।

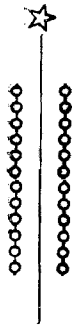

श्वेतवस्त्र : एक वैशिष्ट्य

ऊपर के वर्णन में जैसा कि हमने उल्लेख किया है, भगवान पार्श्व की परम्परा में श्वेत वस्त्रों के साथ-साथ रंग-बिरंगे वस्त्रों का भी प्रचलन था तथा भगवान महावीर की परम्परा में स्थविर कल्प में श्वेत वस्त्र का व्यवहार था। तत्पश्चात् केवल श्वेत वस्त्र का प्रयोग ही चालू रहा। भगवान पार्श्व के श्रमणों के सम्बन्ध में आगम साहित्य में चर्चा हुई है, वे ऋजुप्राज्ञ कहे गये हैं। अर्थात् वे बहुत सरल चेता थे। दिखावे का भाव तक उनके मन में नहीं आता था। जैसे वस्त्र उपलब्ध हुए, सफेद या रंगीन, ले लिये, धारण कर लिये। पर आगे चलकर कुछ लोक-वातावरण ऐसा बना कि साधुओं में भी ऋजुप्राज्ञता नहीं रही। इसलिए वस्त्रों के सम्बन्ध में भी यह निर्धारण करना आवश्यक हो गया कि वे केवल सफेद ही हों।

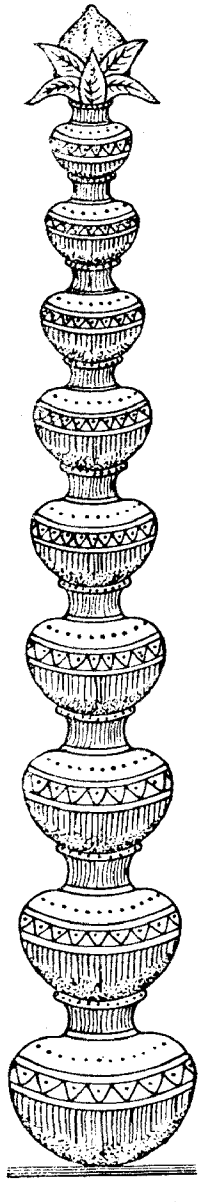

श्वेत : निर्मलता का प्रतीक

स्थूल दृष्टि से श्वेतता एक सहज रूप है। उसे किसी वर्ण या रंग की कोटि में नहीं लिया जाता। उस पर ही अन्य रंग चढ़ाये जाते हैं। अन्य रंग चाहे किसी भी प्रकार के हों, पौद्गलिक दृष्टि से मल ही हैं। मल का अर्थ मैल या गन्दगी नहीं है। मल एक विशेष पारमाणविक पुंज-स्टफ (Stuff) है। वह जब किसी से संयुक्त होता है तो उस मूल वस्तु के रूप में किंचित् परिवर्तन या विकार आ जाता है। विकार शब्द यहाँ खराबी के अर्थ में नहीं है—रूपान्तरण के अर्थ में है। यों पारमाणविक पुंज विशेष द्वारा प्रभावित या उसके सम्मिश्रण से विपरिणत वस्तु एक असहज अवस्था को पा लेती है। विभिन्न रंग की वस्तुएँ या वस्त्र जो हम देखते हैं, वे मूलभूत श्वेतता में विभिन्न रंगों के पारमाणविक पुंजों के सम्मिलन के परिणाम हैं। वह सम्मिलित भाग एक प्रकार का मल ही तो है, चाहे द्युतिमान्—कान्तिमान् हो। इससे फलित हुआ कि श्वेत उस प्रकार के मल से विरहित है। इसीलिए जैन परम्परा में इसका स्वीकार हुआ कि वह जैन श्रमण के निर्मल जीवन की प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्ति दे सके। जैन श्रमण के जीवन में सांसारिक मल-जिनके मूल में एषणा और अविरति है, नहीं होता। इसके साथ-साथ सूक्ष्मतया बचे-खुचे इस प्रकार के रागात्मक मल, कर्मात्मक मल के सर्वथा उच्छिन्न और उन्मूलित करने को एक जैन श्रमण कृत संकल्प होता है। उसका परम ध्येय है—अपने जीवन को कर्मपुंज और कषायों से उन्मुक्त कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को अधिगत करना, जो निरावरण है, निर्द्वन्द्व है—निष्कलंक है। इस दिव्य निर्मलता को प्रकट करने में श्वेत वर्ण की अपनी अप्रतिम विशेषता है।

परिवेश का स्वरूप

भारतीय धर्मों की विभिन्न परम्पराओं में प्रायः इस ओर विशेष ध्यान रहा है कि श्रमण, भिक्षु, संन्यासी या परिव्राजक के वस्त्र कसे हुए न होकर ढीले हों। इसलिए सिले हुए वस्त्रों का भी प्रायः सभी परम्पराओं में विशेषतः वैदिक और जैन परम्पराओं में स्वीकार नहीं रहा। शायद यह भय रहा हो कि सिले हुए वस्त्रों का प्रयोग चल पड़ने से आगे सम्भवतः वस्त्रों में ढीलेपन या मुक्तता का रूप सुरक्षित न रह पाये। देह के लिए वस्त्र का दो प्रकार का उपयोग है। एक तो देह की अवांछित प्राकृतिक उपादानों से रक्षा तथा दूसरे अपने विचारों की अभिव्यंजना। वस्त्रों का ढीला होना शान्त, निर्विकार और सहज जीवन का प्रतीक है। चुस्त वस्त्र किसी न किसी रूप में मानसिक तनाव के प्रतीक हैं। जिन लोगों की लड़ाकू प्रकृति होती है, जो स्वभाव से तेज होते हैं, प्रायः हम उन्हें चुस्त वस्त्रों में पायेंगे।

For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

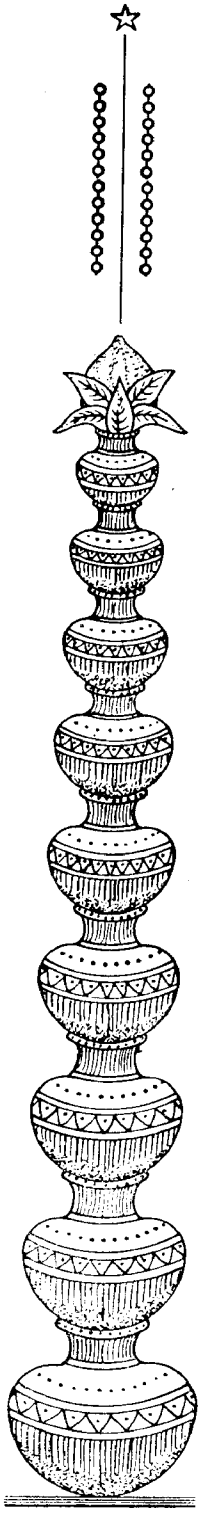

सैनिकों के लिए जिस प्रकार के वस्त्रों का निर्धारण हुआ, इससे यह स्पष्ट झलकता है। सैनिक का यह सहज कर्त्तव्य है कि प्रतिक्षण वह, यदि अपेक्षित हो तो लड़ने को, वार करने को, शत्रु द्वारा किये जाने वाले वार से अपने को बचाने को सर्वथा सन्नद्ध रहे। उसके कपड़े इस बात के प्रेरक हैं।

इसी प्रकार नागरिकजनों में भी जो लोग चुस्त कपड़े पहनने का शौक रखते हैं, यदि हम पता लगायें तो मालूम पड़ेगा कि वे असहिष्णु प्रकृति के हैं। उनमें तेजी की मात्रा अधिक रहती है।

ढीले वस्त्रों की उपयोगिता का दूसरा प्रमाण हम यह देखते हैं कि संन्यासियों के अतिरिक्त जो सन्तकोटि के व्यक्ति हुए, वे भी ढीला लम्बा कुर्ता, धोती जैसा परिवेश ही धारण करते रहे हैं।

संन्यासियों के लिए ढीले, अतएव अनसिले वस्त्रों का जो प्रचलन रहा, वैदिक परम्परा में व्यवहारतः उसमें परिवर्तन भी आता गया। यद्यपि दण्डी संन्यासी तो आज भी ढीले-अनसिले वस्त्र ही धारण करते हैं, पर अन्य संन्यासियों में सिले वस्त्रों के पहनने का भी क्रम चल गया। जैन श्रमणों में वस्त्रों के सन्दर्भ में प्राग्वर्त्ती परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप में संप्रवृत्त है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से

देह की स्वस्थता व नीरोगिता के लिए यह आवश्यक है कि वायु और धूप का सीधा संस्पर्श देह को मिलता रहे। वस्त्र जितने चुस्त या कसे हुए होंगे, उतना ही धूप व वायु का संस्पर्श, संसर्ग कम होगा। जैन श्रमण के जिस प्रकार के ढीले वस्त्र होते हैं, उसमें यह बाधा नहीं है। वायु, प्रकाश आदि के साक्षात् ग्रहण का वहाँ सुयोग रहता है। यद्यपि श्रमण के लिए देह-पोषण परम ध्येय नहीं है परन्तु नैमित्तिक रूप में देह संयम-जीवितव्य का सहायक तो है। दूसरे साधना के जितने कठिन नियमों में एक जैन श्रमण का जीवन बंधा है, उसमें यह कम सम्भव हो पाता है कि रुग्ण हो जाने पर उन्हें अपेक्षित समुचित चिकित्सा का अवसर प्राप्त हो सके, इसलिए अधिक अच्छा यह होता है कि जहाँ तक हो सके, वह रुग्ण ही न हो। क्योंकि रुग्ण श्रमण यथावत् रूप में साधना भी नहीं कर सकता।

निष्पादत्राणता

भारतीय संन्यास-परम्परा में संन्यासी या साधु के लिए वाहन-प्रयोग का सदा से निषेध रहा है। इसलिए वैदिक, बौद्ध एवं जैन—तीनों परम्पराओं के परिव्राजक या साधु प्रारम्भ से ही पाद-विहारी रहे हैं। जहाँ अनिवार्य हुआ, जैसे नदी पार करना, वहाँ नौका या जलपोत के प्रयोग की आपवादिक अनुमति रही है, सामान्यतः नहीं। ज्यों-ज्यों सुविधाएँ बढ़ती गईं। संन्यास या साधुत्व के कठोर नियमों के परिपालन में कुछ अनुत्साह आता गया। कतिपय परम्पराओं में वह (पाद-विहार) की बात नहीं रही। धर्म-प्रसार या जन-जागरण आदि हेतुओं से वाहन प्रयोग को क्षम्य माने जाने की बात सामने आती है। कहा जाता है कि इससे कितने लोग धर्मानुप्राणित होंगे, कितना लाभ होगा। पर, जरा गहराई से सोचें, वस्तुस्थिति यह नहीं है। जन-जन के धर्मानुप्रणित एवं सत्प्रेरित होने का यथार्थ कार्य तो पाद-विहार से ही सधता है। पाद-विहारी सन्त अपने पद-यात्रा क्रम के बीच गाँव-गाँव में पहुँचते हैं, जहाँ भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मों के ऐसे अनेक अशिक्षित, असंस्कृत लोग उनके संपर्क में आते हैं, जो धर्मोपदेश के सही पात्र हैं, जिन तक तथाकथित धर्मप्रसारक पहुंचते तक नहीं। पाद-विहार का ही यह विशेष लाभ है, यदि पाद-विहारी की प्रचारात्मकता में रुचि न हो तो भी अपने यात्रा-क्रम में उन्हें गाँवों में तो आना ही पड़ता है, जिससे यह सहज रूप में सधता है। क्योंकि सन्त तो स्वयं धर्म के जीवित प्रतीक हैं अतः उनका सान्निध्य ही जन-समुदाय के लिए प्रेरणास्पद है।

वाहन-प्रयोग द्वारा बड़े-बड़े नगरों में धर्म-प्रसार हेतु जो पहुँचते हैं, वह उनकी अपनी महत्त्वाकांक्षा हो सकती है, वस्तुतः धर्म-जागरण की दृष्टि से कोई बड़ी बात नहीं सधती। बड़े नगरों में प्रायः वहीं पहुँचना होता है, जहाँ उनके परिचित लोग होते हैं। पूर्व परिचय और संपर्क के कारण उनके लिए उन (धर्म-प्रसारक सन्तों) के उपदेश में कोई नवीनता या विशेषता नहीं रहती। दूसरे, बड़े नगरों के निवासी शिक्षित तथा सुसंस्कृत होते हैं, साहित्य आदि भी पढ़ सकते हैं, स्वयं पहुँचकर भी लाभ ले सकते हैं, पर ग्रामीणों के लिए यह कुछ भी सम्भव नहीं है।

दूसरी बात और है, जैसाकि ऊपर कहा गया है, पादविहार संन्यासी या साधु का अपना सैद्धान्तिक आदर्श है, जिसका अखण्डित रूप में सम्यक् परिपालन उसका प्रथम तथा नितान्त आवश्यक कर्त्तव्य है। वाहन-प्रयोग द्वारा

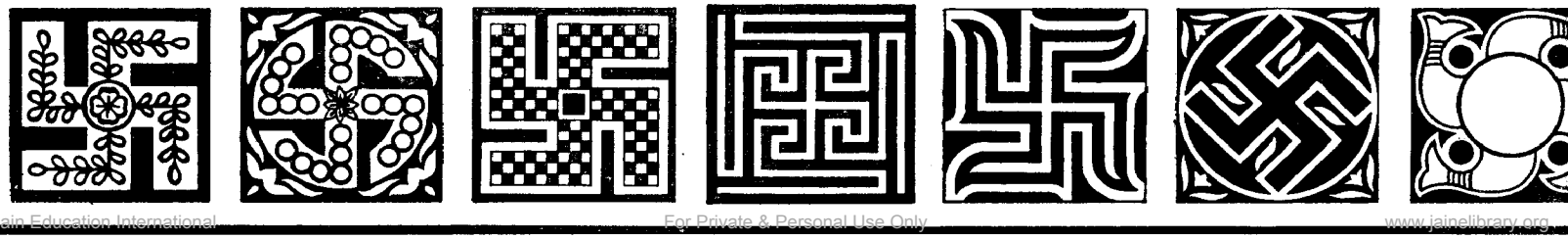

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह खण्डित होता है। वास्तव में सिद्धान्त या आदर्श तभी अपने आप में परिपूर्ण है, जब उसमें विकल्पों या अपवादों का यथेच्छा स्वीकार न हो। क्योंकि यदि विकल्पों और अपवादों को बहुत अधिक मान्यता दी जायेगी तो सम्भव है, एक दिन ऐसा आ जाए, जब आदर्श या सिद्धान्त के स्थान पर केवल विकल्पों और अपवादों का पुंज ही रह जाए।

जैन श्रमणों में पाद-विहार की परम्परा आज तक समीचीन रूप में प्रचलित है। हजारों में एक आध अपवाद हो सकता है पर अपवाद स्वीकार करने वाला व्यक्ति श्रमण-संघ में स्थान पाने योग्य नहीं रहता।

पैरों की सुरक्षा की दृष्टि से बहुत प्राचीनकाल से पाद-रक्षिका, पादत्राण या उपानह, के नाम से जूतों का स्वीकार रहा है। संन्यासियों के लिए जूते वर्जित रहे हैं। वैदिक परम्परा में काष्ठ-पादुका स्वीकृत है। जैनों और बौद्धों में उसका भी स्वीकार नहीं है। बदलते हुए युग के परिवेश में आज जैन-परम्परा के श्रमणों के सिवाय प्रायः सभी ने वस्त्र, कैनवैस, रबर, प्लास्टिक, नाइलोन आदि के पादत्राण स्वीकार कर लिए हैं। केवल जैन-श्रमण-संघ ही ऐसा रह गया है, जिसमें आज भी किसी प्रकार के जूते का, खड़ाऊ, चप्पल आदि का स्वीकार नहीं है। यहाँ तक कि मौजे भी वे प्रयोग में नहीं लेते।

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण

नंगे पैर चलने में भूमि का पैरों के साथ सीधा संस्पर्श होता है। स्नायविक दृष्टि से सारा शरीर परस्पर सम्बद्ध है। पैरों को जिस प्रकार का संस्पर्श मिलता है, तद्गत ऊष्मा, शैत्य सारे देह में स्नायविक ग्राहकता के अनुरूप पहुँच जाते हैं। इसके दो प्रकार के परिणाम आते हैं। यदि जलती भूमि पर चला जाता है तो भूमिगत उष्णता पग-थलियों के माध्यम से देह में पहुँचती है, जिसकी अधिकता देह के लिए हानिप्रद है। प्रातःकालीन शीतल रेत पर नंगे पैर चलना अनेक पैत्तिक व ऊष्माजनित रोगों के निवारण की दृष्टि से उपयोगी है। नेत्रों में जलन, हाथ-पैरों में जलन, जिनका हेतु देह में पित्त-विकार की वृद्धि है, इससे शान्त हो जाती है। नेत्र-शक्ति बढ़ती है, मस्तिष्क में स्फूर्ति का संचार होता है। जैन-मुनियों का पाद-विहार का कार्यक्रम अधिकांशतः प्रातःकाल ही होता है, जिससे यह लाभ उन्हें अनायास ही प्राप्त होता रहता है। दिन में वे अध्ययन, लेखन, सत्संग आदि कार्यों में रहते हैं अतः अधिक ऊष्मा, जिससे कई प्रकार के उपद्रव होने आशंकित हैं, से सहज ही बच जाते हैं।

अपरिग्रह एवं तप की भावना

श्रमण के लिए जितनी अनिवार्य रूप से आवश्यक वस्तुओं अर्थात् संयम-जीवन के लिए उपयोगी बाह्य-उपकरणों का निर्धारण किया गया है, उसमें यह दृष्टि बिन्दु भी रहा है कि उसका तपस्वी जीवन उद्भावित होता रहे। उसके पीछे अपरिग्रह की भावना सन्निहित है। सुविधा या अनुकूलता से विलग रहते हुए श्रमण अधिकाधिक आत्मा-भिरत रह सके, ऐसा भाव उसके पीछे है। पादत्राण या पादरक्षिका श्रमण के लिए अनिवार्य उपकरणों में नहीं आती। यदि सुविधा का दृष्टिकोण न रहे तो पादरक्षिका के लिए वह चिन्तन ही नहीं कर सकता। हाँ, इसमें कुछ दैहिक कष्ट अवश्य है, जो श्रमण के लिए गौण है। इस कष्ट संज्ञा की सार्थकता दैहिक अनुकूलता के साथ जुड़ी हुई है। दैहिक अनुकूलता इसमें से निकल जाय तो कष्ट तपस्या की भूमिका में चला जाता है। अन्यान्य संन्यासी परम्पराओं में पादत्राण का अस्वीकार लगभग इसी कारण रहा है। वह जो विच्छिन्न हुआ, उसका कारण स्पष्ट ही सुविधा या अनुकूलता की ओर झुकाव है। जैन श्रमण जो अब तक उसी निष्पाद त्राणतामय उपकरण व्यवस्था में चले आ रहे हैं, उसका कारण बाह्य सुविधाओं का अनाकर्षण और अपनी अध्यात्म-साधना में सतत संलग्न रहने का भाव है, जो उनकी उन्नत मनो-भूमिका का द्योतक है। यह अ-युगीन कहा जा सकता है। पर, यह अ-युगीनता की चिन्तनधारा संयमात्मक भावना से अनुप्राणित नहीं है। केवल अपनी अनुकूलता या सुविधा पर टिकी हुई है।

मुखवस्त्रिका : एक विश्लेषण

श्रमण की वेशभूषा में मुखवस्त्रिका का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। दार्शनिक दृष्टि से मुखवस्त्रिका स्वीकार के पीछे यह आशय है कि बोलते समय ध्वनि की टक्कर से या आहट से जो वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है, श्रमण उससे बचता रहे।

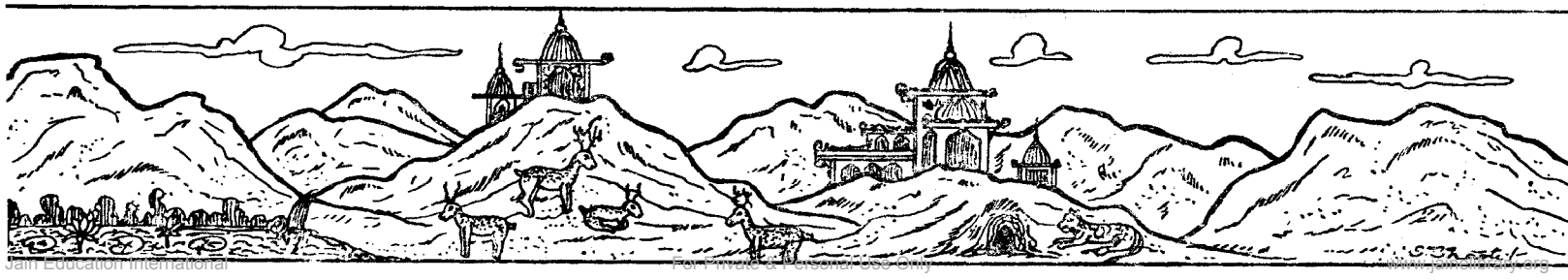

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रों में 'यतना' या जागरूकता से बोलने का जो स्थान-स्थान पर निर्देश हुआ, यह विषय उससे भी सम्बन्धित है। अयतना से बोलने से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है, यह तो स्पष्ट ही है।

मुखवस्त्रिका का प्रयोग मुख पर बांध कर किया जाय या हाथ में रखते हुए अपेक्षित समय पर किया जाय, यह विषय विवाद-ग्रस्त है पर इतना तो निश्चित है कि यतना से बोलने के लिए खुले मुंह नहीं बोलना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से यह ज्यादा उपयोगी प्रतीत होता है कि हाथ में रखने के बजाय उसे मुँह पर धारण किया जाय, क्योंकि बोलना जीवन की अन्यान्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ सतत प्रवर्तनशील क्रिया है। इसलिए हाथ में रखते हुए पुनः-पुनः उसके प्रयोग में शायद यतना की पूरकता नहीं सधती। आखिर तो श्रमण भी एक मानव है, साधारण लोगों में से गया हुआ एक साधक है, दुर्बलताओं को जीतने का उसका प्रयास है पर सम्पूर्णतः वह जीत चुका हो यह स्थिति नहीं है। इसलिए उसके द्वारा प्रमाद होना, चाहे थोड़ा ही सही, आशंकित है। उस स्थिति में मुंह पर धारण की हुई मुखवस्त्रिका उसके यतनामय जीवन में निश्चय ही सहायक सिद्ध होती है। जो मुखवस्त्रिका को मुंह पर धारण करना मान्य नहीं करते, उनमें भी देखा जाता है कि जब वे मन्दिरों में पूजा करते हैं तो मुंह को वस्त्र से बाँधे या ढके रहते हैं। इसके पीछे थूक आदि न गिरे इस पवित्रता की भावना के साथ-साथ हिंसात्मक अयतना के निरोध की भावना भी अवश्य रही होगी।

मुखवस्त्रिका मुंह पर नहीं बाँधना, यह मान्यता वास्तव में सांप्रदायिक परिवेश के तनावों में बड़ी देरी से महत्त्वपूर्ण स्थान पा गई। अन्यथा मुखवस्त्रिका नहीं बाँधने के विषय में आज जैसा आग्रह आज के कुछ पचास वर्षों पहले नहीं था। ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में संवत् १९२९ में प्रकाशित एक पुस्तिका के निम्नांकित चित्र व परिचय दृष्टव्य है—

अथ पण्डित श्री वीरविजय जी कृत पूजाओ आदी प्रभु पूजा गर्भित भक्ति धर्म विनंति रूप अरजी।

आ चोपडि श्री अमदाबाध विद्याशालाथी सा. रवचंद जयचन्दे छपवी सम्यक्त्व धर्म वृद्धि हेते ॥ स०॥ १९२९ आ चोपडि छापनारा बाजी भाइ। अमीचंद ठेकाणुं श्री अमदाबाधमां रायपुरमां आका सेठ ना कुवानी पोलमां ॥ पृ० २९४॥

तेमने पाटे जिनविजयजी, बीजा शिष्य जसविजयजी थया, ते जसविजयजी गुरु खंभातमां देसना देता हता ते अवसर केशव नग्रमां फरतो थको, गुरुनी देसनानो वरणव साँभली, ते गुरुना दर्शन नी इच्छा धरतो उपाश्रय माँयी आवी केशव गुरु पासे जइ बाँदी यथायोग्य थानके बैसी देसना साँभले छे।

एहवी छवी थी बाँचवानो आगम ग्रन्थ प्रक्रण रास परम्परा विदमान थी शुद्ध जाणवो ॥ ए मारग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृ० २९८·····ते गुरु १९ वर्ष धरवास रह्या ५५ वर्ष सुधी दिक्षा पाली, ७३ वर्ष सर्व आयु पाली काल कर्यो ते साँभली, सर्व संघ मली, शोकसहित शुभ गुरुना देह नु मृत कार्य करता हवा।

यहाँ मृत-संस्कार के सन्दर्भ में मुँह पर मुख-वस्त्रिका बाँधने का प्रसंग विशेष रूप से विचारणीय है। यदि साधुओं के दैनन्दिन जीवन में अपने मुंह पर मुखवस्त्रिका बाँधना सामान्य नहीं होता तो दाह-संस्कार के समारोह में यह कभी संभव नहीं था कि मृत मुनि के मुंह पर मुख-वस्त्रिका बाँधी जाए, जैसा कि प्रस्तुत चित्र में किया गया है।

पारसी धर्म में, जो विश्व के पुराने धर्मों में ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान लिये हुए है, पूजा के समय, विशेषतः अग्नि में आघ्रेय पदार्थों के डालने के समय मुँह को वस्त्र से बाँधे रहने की परम्परा है। इसकी गहराई में हम नहीं जायेंगे। पर यह, जो आंशिक ही सही अतर्कित सादृश्य हम देखते हैं उसके पीछे भी क्या इसी प्रकार का कोई भाव रहा है, यह समीक्षकों के लिए गवेषणा का विषय है।

साधारणतया स्थूल दृष्टि से यह भी हम सोच सकते हैं कि अवांछित विजातीय पदार्थ कण—मुंह जो देह का मुख्य प्रवेश-द्वार है, उसमें समाविष्ट न हों, यह भी इससे सधता ही है। चिकित्सक जब शल्य-क्रिया (Operation) करते हैं तो मुख को विशेष रूप से ढके रहते हैं। वहाँ कोई धार्मिक भाव नहीं है किन्तु दूषित वायु, दूषित गन्ध, दूषित परमाणु आदि मुख के द्वारा देह में प्रवेश न कर सकें, ऐसा दृष्टिकोण है। श्रमण के लिए यद्यपि यह उतना तात्त्विक तो नहीं है पर, दूषित पदार्थों के अपहार या अ-समावेश की दृष्टि से कुछ अर्थ तो लिये हुए है ही।

काष्ठपात्र : अपरिग्रह के परिचायक

जैन श्रमण किसी भी प्रकार की धातु के पात्र नहीं रख सकता, उसके लिए काष्ठ-पात्र प्रयोग में लाने का विधान है। अपरिग्रह की दृष्टि से इसका अपना महत्त्व है। क्योंकि यद्यपि परिग्रह मूर्च्छा या आसक्ति पर टिका है पर, मूर्च्छा-विजय या आसक्ति-वर्जन के लिए बाह्य दृष्टि से स्वीक्रियमाण या व्यवह्रियमाण पदार्थ भी उपेक्ष्य नहीं हैं। उनके चयन में भी मूल्यवत्ता का ध्यान रखना आवश्यक माना गया है। क्योंकि यदि पात्र आदि मूल्यवान् होंगे तो हो सकता है, गृहीता का मन उनमें कुछ अटक जाय। यद्यपि जैन श्रमण त्याग की जिस पवित्र भूमिका में संस्थित है, वहाँ यह कम आशंकित है पर खतरा तो है ही। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। ज्यों ही कुछ आसक्ति या मोह आया, साधक का अन्तर-द्वेलन कुछ श्लथित हो ही जाता है। दूसरी बात यह है कि मूल्यवान् पदार्थ या वस्तु को देखकर किसी पदार्थ लुब्ध व्यक्ति का मन भी ललचा सकता है। यदि साधक के मन में इस प्रकार की कुछ भी आशंका बन जाय तो उसे यत्किंचित् चिन्ता-निमग्न भी रहना होता है जो उसके लिए सर्वथा अवांछित है।

जैन श्रमण अपने लिये अपेक्षित और स्वीकृत जो भी उपकरण हैं, उन्हें स्वयं वहन करता है, वह न किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

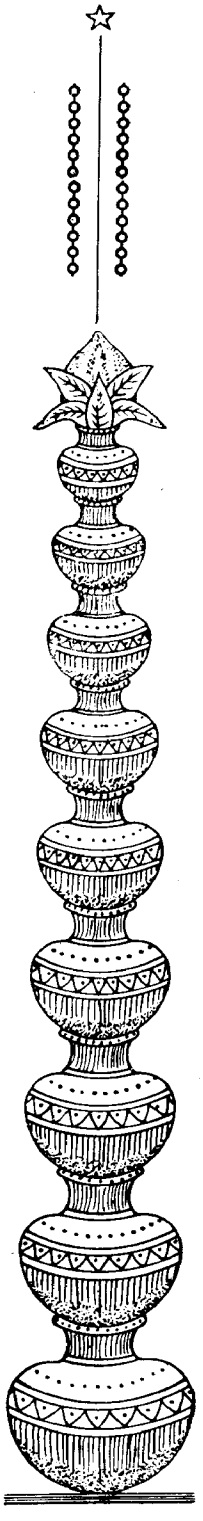

वाहन पर रखवा सकता है, न किसी अन्य व्यक्ति को दे सकता है। ऐसा करने से तो उसका जीवन पराश्रित हो जायगा, जबकि जैन श्रमण का जीवन सर्वथा स्वावलम्बी और स्व-आश्रित होना चाहिए। यदि कहा जाय कि अपने थोड़े से उपकरण किसी को दे दिये जायँ तो इसमें वैसी क्या हानि है—साधारण सहयोग ही तो लिया पर, गहराई से सोचने पर हम देखेंगे कि यदि ऐसा क्रम थोड़े को लेकर ही चल जाय तो यह थोड़ा आगे जाकर बहुत बड़ा हो जाय, अनाशंकनीय नहीं। व्यक्ति का मन ही तो है, जहाँ उसमें जरा भी दौर्बल्य का समावेश होने लगे, वह उसके औचित्य के लिए दलीलें गढ़ने लगता है। फिर यह औचित्य की सीमा न जाने आगे जाकर कितनी विस्तृत हो जाय, कुछ कहा नहीं जा सकता। फलतः औचित्य के परिवेश में अनौचित्य आ धमकता है, जो साधक-जीवन के ध्वंस का हेतु बनता है।

भावनात्मक दृष्टि से सोचें तो काठ हलकेपन का प्रतीक है, वह पानी पर तैरता है, यह उसकी विशेषता है श्रमण को संसार-सागर पार करना है। हर समय उसके ध्यान में रहना चाहिए कि उसका संयमी जीवन अनुप्राणित, परिपोषित और विकसित होता जाए।

संसार एक सागर है, निर्वाण या मोक्ष उसके पार पहुँचना है। इस हेतु संसार रूपी सागर को सन्तीर्ण करना है। यह सन्तरण अध्यात्म की साधना है। इस भाव का रूपक प्रायः सभी धर्मों में रहा है। काष्ठपात्र स्थूल दृष्टि से इसकी प्रतीकात्मकता ले सकते हैं। यद्यपि यह विवेचन कुछ कष्ट कल्पना की सीमा में तो जाता है पर प्रेरणा की दृष्टि से इसकी ग्राह्यता है।

रजोहरण

संयमी जीवन के निर्वाह के हेतु श्रमण के लिए और भी कतिपय उपकरणों का विधान है, जिनमें रजोहरण मुख्य है। यह ऊन के मुलायम धागों से बना होता है। साधुओं द्वारा सदा इसे अपने पास रखे जाने के पीछे अहिंसा का दृष्टिकोण है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, सोना आदि दैनन्दिन क्रियाओं के प्रसंग में कृमि, कीड़े चींटी जैसे छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की हिंसा आशंकित है, उससे बचने के लिए रजोहरण की अपनी उपादेयता है। उन-उन क्रियाओं के सन्दर्भ में प्रयुज्यमान स्थान का रजोहरण द्वारा प्रोञ्छन, प्रमार्जन आदि कर लिया जाता है, कोई जीव-जन्तु हों तो उन्हें बहुत धीरे से रजोहरण द्वारा हटा दिया जाता है। यों हिंसा का प्रसंग टल जाता है।

उपसंहार

जैन-श्रमण की वेशभूषा, उपकरण आदि की संख्या, परिमाण, प्रयोग, परिष्ठापन आदि और भी अनेक पहलू हैं, जिन पर विवेचन किया जा सकता है पर विषय-विस्तार के भय से यहाँ केवल उन्हीं कुछ उपकरणों को लिया गया है, जो एक श्रमण के दैनन्दिन जीवन में प्रस्फुट रूप से हमारे सामने आते हैं। इनके परिशीलन से यह स्पष्ट है कि श्रमण की जो पंचमहाव्रतात्मक चारित्रिक भूमिका है, उसमें यह नैमित्तिक दृष्टि से निस्सन्देह सहायक है। यद्यपि उपादान तो स्वयं अपनी आत्मा ही है पर निमित्त की सहकारिता का भी अपना स्थान है। कार्य-निष्पत्ति में उपादान-निमित्त की उपस्थिति की जो मांग करता है, वह अनिवार्य है।

जैसा कि हमने देखा, उपकरण चयन में अपरिग्रह की भावना विशेष रूप से समाविष्ट है पर यह भी सर्वथा सिद्ध है कि महाव्रत अन्योन्याश्रित हैं। एक व्रत के खंडित होते ही दूसरे स्वयं खंडित हो जाते हैं। इसलिए अपरिग्रह की मुख्यता से सभी महाव्रतों के परिरक्षण और परिपालन में उपकरण-शुद्धता का महत्त्व है। संयम-मूलक शुद्धि के साथ-साथ सरल, निःस्पृह, सात्त्विक और पवित्र जीवन की स्थूल प्रतीकात्मकता भी इनमें है, जिसका आपाततः बहुत महत्त्व है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा १-१६

२ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो। देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा॥
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं। लिंगे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा २९-३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org